तत्त्वोपप्लवसिंह

चार्वाक दर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ ।

गत वर्ष, ई० स० १९४० में, गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीजके ग्रन्थाङ्क ८७ रूपमें, तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जो चार्वाक दर्शनके विद्वान् जयराशि भट्टकी कृति है और जिसका सम्पादन प्रो० रसिकलाल सी० परीख तथा मैंने मिलकर किया है । इस ग्रन्थ तथा इसके कर्ताके विषयमें ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं जिनकी जानकारी दर्शन-साहित्यके इतिहासज्ञोंके लिए तथा दार्शनिक-प्रमेयोंके जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी एवं रसप्रद हैं ।

उक्त सिरीजमें प्रकाशित प्रस्तुत कृतिकी प्रस्तावनामें, ग्रन्थ तथा उसके कर्ताके बारेमें कुछ आवश्यक जानकारी दी गई है; फिर भी प्रस्तुत लेख विशिष्ट उद्देश्यसे लिखा जाता है । एक तो यह, कि वह मुद्रित पुस्तक सबको उतनी सुलभ नहीं हो सकती जितना कि एक लेख । दूसरी, वह प्रस्तावना अंग्रेजीमें लिखी होनेसे अंग्रेजी न जाननेवालोंके लिए कार्यसाधक नहीं । तीसरी, खास बात यह है कि उस अंग्रेजी प्रस्तावनामें नहीं चर्चित ऐसी अनेकानेक ज्ञातव्य बातोंका इस लेखमें विस्तृत ऊहापोह करना है ।

तत्त्वोपप्लवसिंह और उसके कर्ताके बारेमें कुछ लिखनेके पहले, यह बतलाना उपयुक्त होगा कि इस ग्रन्थकी मूल प्रति हमें कब, कहाँसे और किस तरहसे मिली । करीब पन्द्रह वर्ष हुए, जब कि मैं अपने मित्र पं० बेचरदासके साथ अहमदाबादके गुजरात पुरातत्त्व मन्दिरमें सन्मतितर्कका सम्पादन करता था, उस समय सन्मतितर्ककी लिखित प्रतियोंकी खोजकी धुन मेरे सिरपर सवार थी । मुझे मालूम हुआ कि सन्मतितर्ककी ताडपत्रकी प्रतियाँ पाटणमें हैं । मैं पं० बेचरदासके साथ वहाँ पहुँचा । उस समय पाटणमें स्व० मुनिश्री हंसविजयजी विराजमान थे । वहाँके ताडपत्रीय भण्डारको खुलवानेका तथा उसमेंसे इष्ट प्रतियोंके पा लेनेका कठिन कार्य उक्त मुनिश्रीके ही सद्भाव तथा प्रयत्नसे सरल हुआ था ।

सन्मतितर्ककी ताडपत्रीय प्रतियोंको खोजते व निकालते समय हम लोगोंका ध्यान अन्यान्य अपूर्व ग्रन्थोंकी ओर भी था । पं० बेचरदासने देखा कि उस एकमात्र ताडपत्रीय ग्रन्थोंके भण्डारमें दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो अपूर्व हो कर जिनका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपयोग सन्मतितर्ककी टीकामें भी हुआ है। हमने वे दोनों ग्रन्थ किसी तरह उस भण्डारके व्यवस्थापकोंसे प्राप्त किए। उनमेंसे एक तो था बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिके हेतुबिन्दुशास्त्रका अर्चटकृत विवरण [1] और दूसरा ग्रन्थ था प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवसिंह। अपनी विशिष्टता तथा पिछले साहित्य पर पड़े हुए इनके प्रभावके कारण, उक्त दोनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण तो थे ही, पर उनकी लिखित प्रति अन्यत्र कहीं भी ज्ञात न होनेके कारण वे ग्रन्थ और भी अधिक विशिष्ट महत्त्ववाले हमें मालूम हुए।

उक्त दोनों ग्रन्थोंकी ताडपत्रीय प्रतियाँ यद्यपि यत्र-तत्र खण्डित और कहीं कहीं घिसे हुए अक्षरोंवाली हैं, फिर भी ये शुद्ध और प्राचीन रही। तत्त्वोपप्लवकी इस प्रतिका लेखन-समय वि० सं० १३४६ मार्गशीर्ष कृष्ण ११ शनिवार है। यह प्रति गुजरातके धोलका नगरमें, महं० नरपालके द्वारा लिखवाई गई है। धोलका, गुजरातमें उस समय पाटणके बाद दूसरी राजधानीका स्थान था, जिसमें अनेक ग्रन्थ भण्डार बने थे और सुरक्षित थे। धोलका वह स्थान है जहाँ रह कर प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपालने सारे गुजरातका शासन-तंत्र चलाया। था। सम्भव है कि इस प्रतिका लिखानेवाला महं० नरपाल शायद मंत्री वस्तुपालका ही कोई वंशज हो। अस्तु, जो कुछ हो, तत्त्वोपप्लवकी इस उपलब्ध ताडपत्रीय प्रतिको अनेक बार पढ़ने, इसके घिसे हुए तथा लुप्त अक्षरोंको पूरा करने आदिका श्रमसाध्य कार्य अनेक सहृदय विद्वानोंकी मददसे चालू रहा, जिनमें भारतीय-विद्याके सम्पादक मुनिश्री जिनविजयी, प्रो० रसिकलाल परीख तथा पं० दलसुख मालवणिया मुख्य हैं।

इस ताड़पत्रकी प्रतिके प्रथम वाचनसे ले कर इस ग्रन्थके छप जाने तकमें जो कुछ अध्ययन और चिन्तन इस सम्बन्धमें हुआ है उसका सार **'भारतीय विद्या'** के पाठकोंके लिए प्रस्तुत लेखके द्वारा उपस्थित किया जाता है। इस लेखका वर्त्तमान स्वरूप पं० दलसुख मालवणियाके सौहार्दपूर्ण सहयोगका फल है।

ग्रन्थकार

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिताका नाम, जैसा कि ग्रन्थके अन्तिम प्रशस्तिपद्यमें [2]

---

१. गायकवाड़ सिरीजमें यह भी प्रकाशित हो गया है।

२. भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभिः सृष्टो महार्थोदयः।
तत्त्वोपप्लवसिंह एष इति यः ख्यातिं परां यास्यति ॥ तत्त्वो०, पृ० १२५

"तत्त्वोपप्लवकरणाद् जयराशिः सौगतमतमवलम्ब्य ब्रूयात्"–सिद्धिवि० टी०, पृ० २८८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लिखित है, **जयराशि भट्ट** है। यह जयराशि किस वर्ण या जातिका था इसका कोई स्पष्ट प्रमाण ग्रन्थमें नहीं मिलता, परन्तु वह अपने नामके साथ जो 'भट्ट' विशेषण लगाता है उससे जान पड़ता है कि वह जातिसे ब्राह्मण होगा। यद्यपि ब्राह्मणसे भिन्न ऐसे जैन आदि अन्य विद्वानोंके नामके साथ भी कभी-कभी यह भट्ट विशेषण लगा हुआ देखा जाता है (यथा—भट्ट अकलंक इत्यादि); परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थमें आए हुए जैन और बौद्ध मत विषयक निर्देश एवं कटाक्ष-युक्त [१] खण्डनके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि यह जयराशि न जैन है और न बौद्ध। जैन और बौद्ध संप्रदायके इतिहासमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता है, जिससे यह कहा जा सके, कि जैन और बौद्ध होते हुए भी अमुक विद्वान्ने अपने जैन या बौद्ध संप्रदायका समग्र भावसे विरोध किया हो। जैन और बौद्ध सांप्रदायिक परंपराका बंधारण ही पहलेसे ऐसा रहा है, कि कोई विद्वान् अपनी परंपराका आमूल खण्डन करके वह फिर न अपनेको उस परंपरका अनुयायी कह सकता है और न उस परम्पराके अन्य अनुयायी ही उसे अपनी परम्पराका मान सकते हैं। ब्राह्मण संप्रदायका बंधारण इतना सख्त नहीं है। इस संप्रदायका कोई विद्वान्, अगर अपनी पैतृक ऐसी सभी वैदिक मान्यताओंका, अपना बुद्धिपाटव दिखानेके वास्ते अथवा अपनी वास्तविक मान्यताको प्रकट करनेके वास्ते, आमूल खण्डन करता है, तब भी, वह यदि आचारसे ब्राह्मण संप्रदायका आत्यन्तिक त्याग नहीं कर बैठता है, तो वैदिक मतानुयायी विशाल जनतामें उसका सामाजिक स्थान कभी नष्ट नहीं हो पाता। ब्राह्मण सम्प्रदायकी प्रकृतिका, हमारा उपर्युक्त ख्याल अगर ठीक है, तो

---

१. बौद्धोंके लिए ये शब्द हैं—

'तद्वाग्विलसितम्'—पृ० २६, पं० २६। 'जडचेष्टितम्'—पृ० ३२, पं० ४। 'तदिदं महानुभावस्य दर्शनम्। न ह्यबालिश एवं वक्तुमुत्सहेत'—पृ० ३८, पं० १५। 'तदेतन्मुग्धाभिधानं दुनोति मानसम्'—पृ० ३६, पं० १७। 'तद्वालवल्गितम्'—पृ० ३६, पं० २३। 'मुग्धबौद्धैः'—पृ० ४२, पं० २२। 'तन्मुग्ध विलसितम्'—पृ० ५३, पं० ६। इत्यादि

तथा जैनोंके लिए ये शब्द हैं—

"इमामेव मूर्खतां दिगम्बराणामङ्गीकृत्य उक्तं सूत्रकारेण यथा—

"नग्न! श्रमणक! दुर्बुद्धे! कायक्लेशपरायण!।
जीविकार्थेऽपि चारम्भे केन त्वमसि शिक्षितः॥"

—पृ० ७६, पं० १५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहना होगा कि यह भट्ट विशेषण जयराशिकी ब्राह्मण सांप्रदायिकताका ही द्योतक होना चाहिए ।

इसके सिवा, जयराशिके पिता-माता या गुरु-शिष्य इत्यादिके संबन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता । फिर भी जयराशिका बौद्धिक मन्तव्य क्या था यह बात इसके प्रस्तुत ग्रन्थसे स्पष्ट जानी जा सकती है । जयराशि एक तरहसे बृहस्पतिके चार्वाक संप्रदायका अनुगामी है; फिर भी वह चार्वाकके सिद्धान्तोंको अक्षरशः नहीं मानता । चार्वाक सिद्धान्तमें पृथ्वी आदि चार भूतोंका तथा मुख्य रूपसे प्रत्यक्ष विशिष्ट प्रमाणका स्थान है । पर जयराशि न प्रत्यक्ष प्रमाणको ही मानता है और न भूत तत्त्वोंको ही । तब भी वह अपनेको चार्वाकानुयायी जरूर मानता है । अतएव ग्रन्थके आरम्भमें [१] ही बृहस्पतिके मन्तव्यके साथ अपने मन्तव्यकी आनेवाली असंगतिका उसने तर्कशुद्ध परिहार भी किया है । उसने अपने मन्तव्यके बारेमें प्रश्न उठाया है, कि बृहस्पति जब चार तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है, तब तुम (जयराशि) तत्त्वमात्रका खण्डन कैसे करते हो ? अर्थात् बृहस्पतिकी परम्पराके अनुयायीरूपसे कम-से-कम चार तत्त्व तो तुम्हें अवश्य मानने ही चाहिए । इस प्रश्नका जबाब देते हुए जयराशिने अपनेको बृहस्पतिका अनुयायी भी सूचित किया है और साथ ही बृहस्पतिसे एक कदम आगे बढ़नेवाला भी बतलाया है । वह कहता है कि—बृहस्पति जो अपने सूत्रमें चार तत्त्वोंको गिनाता है, वे इसलिए नहीं कि वह खुद उन तत्त्वोंको मानता है । सूत्रमें चार तत्त्वोंके गिनाने अथवा तत्त्वोंके व्याख्यानकी प्रतिज्ञा करनेसे बृहस्पतिका मतलब सिर्फ लोकप्रसिद्ध तत्त्वोंका निर्देश करना मात्र है । ऐसा करके बृहस्पति यह सूचित करता है, कि साधारण लोकमें प्रसिद्ध और माने जानेवाले पृथ्वी आदि चार तत्त्व भी जब सिद्ध हो नहीं सकते, तो फिर अप्रसिद्ध और अतीन्द्रिय आत्मा आदि तत्त्वोंकी तो बात ही क्या ? बृहस्पतिके कुछ सूत्रोंका उल्लेख करके और उसके आशयके साथ अपने नए प्रस्थानकी आनेवाली असंगतिका परिहार करके जयराशिने भारत-वर्षीय प्राचीन गुरु-शिष्य भावकी प्रणालीका ही परिचय दिया है । भारतवर्षके किसी भी संप्रदाय-

---

१. 'ननु यदि उपप्लवस्तत्त्वानां किमाया....; अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः'; 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा इत्यादि ? न अन्यार्थत्वात् । किमर्थम् ? प्रतिविम्बनार्थम् । किं पुनरत्र प्रतिविम्ब्यते ? पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते, किं पुनरन्यानि ?'—तत्त्वो० पृ० १, पं० १० ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के इतिहासको हम देखते हैं, तो उसमें स्पष्ट दिखाई देता है, कि जब कोई असाधारण और नवीन विचारका प्रस्थापक पैदा होता है तब वह अपने नवीन विचारोंका मूल या बीज अपने संप्रदायके प्राचीन एवं प्रतिष्ठित आचार्योंके वाक्योंमें ही बतलाता है। वह अपनेको अमुक संप्रदायका अनुयायी मानने-मनवानेके लिए उसकी परम्पराके प्राचीन एवं प्रतिष्ठित आचार्योंके साथ अपना अविच्छिन्न अनुसंधान अवश्य बतलाता है। चाहे फिर उसका वह नया विचार उस संप्रदायके पूर्ववर्ती आचार्योंके मस्तिष्कमें कभी आया भी न हो।[१] जयराशिने भी यही किया है। उसने अपने निजी विचार-विकासको बृहस्पतिके अभिप्रायमेंसे ही फलित किया है। यह वस्तुस्थिति इतना बतलानेके लिए पर्याप्त है कि जयराशि अपनेको बृहस्पतिकी संप्रदायका मानने-मनवानेका पक्षपाती है।

अपनेको बृहस्पतिकी परम्पराका मान कर और मनवा कर भी वह अपनेको बृहस्पतिसे भी ऊँची बुद्धिभूमिका पर पहुँचा हुआ मानता है। अपने इस मन्तव्यको वह स्पष्ट शब्दोंमें, ग्रन्थके अन्तकी प्रशस्तिके एक पद्यमें, व्यक्त करता है। वह बहुत ही जोरदार शब्दोंमें कहता है कि सुरगुरु—बृहस्पतिको भी जो नहीं सूझे ऐसे समर्थ विकल्प—विचारणीय प्रश्न मेरे इस ग्रन्थमें ग्रथित हैं[२]।

जयराशि बृहस्पतिकी चार्वाक मान्यताका अनुगामी था इसमें तो कोई सन्देह नहीं, पर यहाँ प्रश्न यह है कि जयराशि बुद्धिसे ही उस परम्पराका अनुगामी था कि आचारसे भी? इसका जवाब हमें सीधे तौरसे किसी तरह नहीं मिलता। पर तत्त्वोपप्लवके आन्तरिक परिशीलनसे तथा चार्वाक परम्पराकी थोड़ी बहुत पाई जानेवाली ऐतिहासिक जानकारीसे, ऐसा जान पड़ता है कि जयराशि बुद्धिसे ही चार्वाक परम्पराका अनुगामी होना चाहिए। साहित्यिक

---

१. उदाहरणार्थ आचार्य शङ्कर, रामानुज, मध्व और वल्लभादिको लीजिए—जो सभी परस्पर अत्यन्त विरुद्ध ऐसे अपने मन्तव्यों को गीता, ब्रह्मसूत्र जैसी एक ही कृतिमेंसे फलित करते हैं; तथा सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्धाचार्य परस्पर बिलकुल भिन्न ऐसे अपने विचारोंका उद्गम एक ही तथागतके उपदेशमेंसे बतलाते हैं।

२. "ये याता नहि गोचरं सुरगुरोः बुद्धेर्विकल्पा दृढाः।
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाखण्डदर्पच्छिदि।"

—तत्त्वो० पृ० १२५, पं० १३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहास हमें चार्वाकके खास जुदे आचारोंके बारेमें कुछ भी नहीं कहता। यद्यपि अन्य [1] संप्रदायोंके विद्वानोंने चार्वाक मतका निरूपण करते हुए, उसके अभिमत रूपसे कुछ नीतिविहीन आचारोंका निर्देश अवश्य किया है; पर इतने परसे हम यह नहीं कह सकते कि चार्वाकके अभिमतरूपसे, अन्यपरम्पराके विद्वानोंके द्वारा वर्णन किये गए वे आचार, चार्वाक परम्परामें भी कर्तव्यरूपसे प्रतिपादन किये जाते होंगे। चार्वाक दर्शनकी तात्त्विक मान्यता दर्शानेवाले बार्हस्पत्यके नामसे कुछ सूत्र या वाक्य हमें बहुत पुराने समयके मिलते हैं; पर हमें ऐसा कोई वाक्य या सूत्र नहीं मिलता जो बार्हस्पत्य नामके साथ उद्धृत हो और जिसमें चार्वाक मान्यताके किसी न किसी प्रकारके आचारोंका वर्णन हो। खुद बार्हस्पत्य वाक्योंके द्वारा चार्वाकके आचारोंका पता हमें न चलें तब तक, अन्य द्वारा किये गए वर्णनमात्रसे, हम यह निश्चित नतीजा नहीं निकाल सकते कि अमुक आचार ही चार्वाकका है। वाममार्गीय परंपराओंमें या तान्त्रिक एवं कापालिक परम्पराओंमें प्रचलित या माने जानेवाले अनेक विधि-निषेधमुक्त [2] आचारोंका पता हमें कितनेएक तान्त्रिक आदि ग्रन्थोंसे चलता है। पर वे आचार चार्वाक मान्यताको भी मान्य होंगे इस बातका निर्णायक प्रमाण हमारे पास कोई नहीं। ऐसी दशामें जयराशिको चार्वाक संप्रदायका अनुगामी मानते हुए भी, निर्विवाद रूपसे हम उसे सिर्फ बुद्धिसे ही चार्वाक परम्पराका अनुगामी

---

१. "पिब खाद च चारुलोचने यदतीतं वरगात्रि तन्नते।
नहि भीरु गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥
साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मते तेषां धर्मः कामात् परो न हि॥"
—षड्द० का० ८२, ८६।

'प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्—
यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

'इति लोकगाथामनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थौ मन्यमानाः पारलौकिकमर्थमपह्नुवानाश्चार्वाकमतमनुवर्तमाना एवानुभूयन्ते।'—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २।

२. इस विषयके जिज्ञासुओंको आगमप्रकाश नामकी गुजराती पुस्तक देखने योग्य है जिसमें लेखकने तान्त्रिक ग्रन्थोंका हवाला देकर वाममार्गीय आचारोंका निरूपण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कह सकते हैं। ऐसा भी संभव है कि वह आचारके विषयमें अपनी पैतृक ऐसी ब्राह्मण परम्पराके ही आचारोंका सामान्य रूपसे अनुगामी रहा हो।

जयराशिके जन्मस्थान, निवासस्थान या पितृदेशके बारेमें जाननेका कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है। परन्तु उसकी प्रस्तुत कृति तत्त्वोपप्लवका किया गया सर्वप्रथम उपयोग, हम इस समय, जैन विद्वान् विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदिकी कृतियोंमें देखते हैं[1]। विद्यानन्द दक्षिण भारतके विद्वान् हैं, अतएव पुष्ट संभावना यह है कि जयराशि भी दक्षिण भारतमें ही कहीं उत्पन्न हुआ होगा। पश्चिम भारत—अर्थात् गुजरात और मालवामें होनेवाले कई जैन विद्वानोंने[2] भी अपने ग्रन्थोंमें तत्त्वोपप्लवका साक्षात् उपयोग किया है; परन्तु जान पड़ता है कि गुजरात आदिमें तत्त्वोपप्लवका जो प्रचार बादमें जाकर हुआ वह असलमें विद्यानन्दकी कृतियोंके प्रचारका ही परिणाम मालूम होता है। उत्तर और पूर्व भारतमें रचे गए किसी ग्रन्थमें, तत्त्वोपप्लवका किया गया ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपयोग अभी तक नहीं देखा गया, जैसा दक्षिण भारत और पश्चिम भारतमें बने हुए ग्रन्थोंमें देखा जाता है। इसमें भी दक्षिण भारतकी कृतियोंमें ही जब सर्वप्रथम इसका उपयोग देखा जाता है तब ऐसी कल्पनाका करना असंगत नहीं मालूम देता कि जयराशिकी यह अपूर्व कृति कहीं दक्षिणमें ही बनी होगी।

जयराशिके समयके बारेमें भी अनुमानसे ही काम लेना पड़ता है। क्योंकि न तो इसने स्वयं अपना समय सूचित किया है और न दूसरे किसीने ही इसके समयका उल्लेख किया है। तत्त्वोपप्लवमें जिन प्रसिद्ध विद्वानोंके नाम आए हैं या जिनकी कृतियोंमेंसे कुछ अवतरण आए हैं उन विद्वानोंके समयकी अन्तिम अवधि ई० स० ७२५ के आसपास तककी है। कुमारिल, प्रभाकर, धर्मकीर्ति और धर्मकीर्तिके टीकाकार आदि विद्वानोंके नाम, वाक्य या मन्तव्य तत्त्वोपप्लवमें[3] मिलते हैं। इन विद्वानोंके समयकी उत्तर अवधि ई० स० ७५०

---

१. अष्टसहस्री, पृ० ३७। सिद्धिविनिश्चय, पृ० २८८।

२. गुजरात तथा मालवामें विहार करनेवाले सन्मतिके टीकाकार अभयदेव, जैनतर्कवार्तिककार शान्तिसूरि, स्याद्वादरत्नाकरकार वादी देवसूरि, स्याद्वादमंजरीकार मल्लिषेणसूरि आदि ऐसे विद्वान हुए हैं जिन्होंने तत्त्वोपप्लवका साक्षात् उपयोग किया है।

३. कुमारिलके श्लोकवार्तिककी कुछ कारिकाएँ तत्त्वोपप्लवमें (पृ० २७, ११६) उद्धृत की गई हैं। प्रभाकरके स्मृतिप्रमोषसंबंध मतका खण्डन जयराशिने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से आगे नहीं जा सकती, दूसरी तरफ, ई० स० ८१० से ८७५ तकमें संभवित जैन विद्वान् विद्यानन्दने तत्त्वोपप्लवका केवल नाम ही नहीं लिया है बल्कि उसके अनेक भाग ज्योंके त्यों अपनी कृतियोंमें उद्धृत किये हैं और उनका खण्डन भी किया है [1]। पर साथमें इस जगह यह भी ध्यानमें रखना चाहिए, कि ई० स० की आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें होनेवाले या जीवित ऐसे अकलंक, हरिभद्र आदि किसी जैन विद्वान्का तत्त्वोपप्लवमें कोई निर्देश नहीं है, और न उन विद्वानोंकी कृतियोंमें ही तत्त्वोपप्लवका वैसा कोई सूचन है। इसी तरह, ई० स० की नवीं शताब्दीके प्रारम्भमें होनेवाले प्रसिद्ध शंकराचार्यका भी कोई सूचन तत्त्वोपप्लवमें नहीं है। तत्त्वोपप्लवमें आया हुआ वेदान्तका खण्डन [2] प्राचीन औपनिषदिक संप्रदायका ही खण्डन जान पड़ता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे इस समय हमारी धारणा ऐसी बनती है कि जयराशि ई०स० ७२५ तकमें कभी हुआ है।

यहाँ एक बात पर विशेष विचार करना प्राप्त होता है, और वह यह है, कि तत्त्वोपप्लवमें एक पद्य [3] ऐसा मिलता है जो शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें मौजूद है। पर वहाँ, वह कुमारिलके नामके साथ उद्धृत किये जाने पर भी, उपलभ्य कुमारिलकी किसी कृतिमें प्राप्य नहीं है। अगर तत्त्वोपप्लवमें उद्धृत किया हुआ वह पद्य, सचमुच तत्त्वसंग्रहमेंसे ही लिया गया है,

---

विस्तारसे किया है (पृ० १८)। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी कुछ कारिकाएँ और न्यायबिन्दुका एक सूत्र तत्त्वोपप्लवमें उद्धृत हैं (पृ० २८, ५१, ४५, इत्यादि; तथा पृ० ३२)। धर्मकीर्तिके टीकाकारोंका नामोल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थकी कारिकाकी, जो टीका किसीने की होगी उसका खण्डन तत्त्वोपप्लवमें उपलब्ध है—पृ० ६८।

१. 'कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम्? किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन, प्रवृत्तिसामर्थ्येन, अन्यथा वा? यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन तदा....' इत्यादि अष्टसहस्रीगत पाठ (अष्टसहस्री पृ० ३८) तत्त्वोपप्लवमेंसे (पृ० २) शब्दशः लिया गया है। और आगे चलकर अष्टसहस्रीकारने तत्त्वोपप्लवके उन वाक्योंका एक-एक करके खण्डन भी किया है—देखो, अष्टसहस्री पृ० ४०।

२. देखो, तत्त्वोपप्लव पृ० ८१।

३. "दोषाः सन्ति न सन्तीति" इत्यादि, तत्त्वो० पृ० ११६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो ऐसा मानना होगा कि जयराशिने शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहको जरूर देखा था। शान्तरक्षितका जीवन-काल इतना अधिक विस्तृत है कि वह प्रायः पूरी एक शताब्दीको व्याप्त कर लेता है। शान्तरक्षितका समय ई० स० की आठवीं-नवीं शताब्दी है। इस बातसे भी जयराशिके समय संबन्धी हमारे उक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। दस-बीस वर्ष इधर या उधर; पर समय संबन्धी उपर्युक्त अनुमानमें विशेष अन्तर पड़नेकी संभावना बहुत ही कम है।

जयराशिकी पाण्डित्यविषयक योग्यताके विषयमें विचार करनेका साधन, तत्त्वोपप्लवके सिवाय, हमारे सामने और कुछ भी नहीं है। तत्त्वोपप्लवमें एक जगह **लक्षणसार**[१] नामक ग्रन्थका निर्देश है जो जयराशिकी ही कृति जान पड़ती है; परन्तु वह ग्रन्थ अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं है। जयराशिकी अन्य कृतियोंके बारेमें और कोई प्रमाण नहीं मिला है; परन्तु प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवकी पाण्डित्यपूर्ण एवं बहुश्रुत चर्चाओंको देखनेसे ऐसा माननेका मन हो जाता है कि जयराशिने और भी कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे होंगे। जयराशि दार्शनिक है फिर भी उसके केवल वैयाकरणसुलभ कुछ प्रयोगोंको[२] देख कर यह मानना पड़ता है कि वह वैयाकरण जरूर था। उसकी दार्शनिक लेखन-शैलीमें भी जहाँ-तहाँ आलंकारिकसुलभ व्यङ्गोक्तियाँ और मधुर कटाक्षोंकी भी कहीं-कहीं छटा है[३]। इससे उसके एक अच्छे आलंकारिक होनेमें भी बहुत सन्देह नहीं रहता। जयराशि वैयाकरण या आलंकारिक हो— या न हो, पर वह दार्श-

---

१. 'अव्यपदेश्यपदं च यथा न साधीयः तथा **लक्षणसारे** द्रष्टव्यम्।'—तत्त्वो० पृ० २०।

२. 'जेगीयते'–पृ० २६, ४१। 'जाघटीति' पृ० २७,७६ इत्यादि।

३. 'शृण्वन्तु अमी बाललपितं विपश्चितः ?'–पृ० ५। 'अहो राजाज्ञा गरीयसी नैयायिकपशोः !'–पृ० ६। 'तदेतन्महासुभाषितम् ?'–पृ० ६। 'न जातु जानते जनाः।'–पृ० ८। 'मरीचयः प्रतिभान्ति देवानांप्रियस्य।' –पृ० १२। 'अहो राजाज्ञा नैयायिकपशोः'–पृ० १४। 'तथापि विद्यमानयोर्बाध्यबाधकभावो भूपालयोरिव'–पृ० १५। 'सोयं गडुप्रवेशाच्चितारकविनिर्गमन्यायोपनिपातः श्रुतिलालसानां दुरुत्तरः।'–पृ० २३। 'बालविलसितम्' –पृ० २६। 'जडचेष्टितम्'–पृ० ३२। 'तदिदं मद्धिकल्पान्दोलितबुद्धेः निरुपपत्तिकाभिधानम्'–पृ० ३३। 'वर्तमानव्यवहारविरहः स्यात्'–पृ० ३७। 'जडमतयः' पृ० ५६। 'सुस्थितं नित्यत्वम्' पृ० ७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक तो पूरा है। उसके अभ्यासका विषय भी कोई एक दर्शन, या किसी एक दर्शनका अमुक ही साहित्य नहीं है, पर उसने अपने समयमें पाए जानेवाले सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दर्शनोंके प्रधान-प्रधान ग्रन्थ अवश्य देखे जान पड़ते हैं। उसने खण्डनीय ऐसे सभी दर्शनोंके प्रधान ग्रन्थोंको केवल स्थूल रूपसे देखा ही नहीं है, परन्तु वह खण्डनीय दर्शनोंके मन्तव्योंको वास्तविक एवं गहरे अभ्यासके द्वारा पी गया-सा जान पड़ता है। वह किसी भी दर्शनके अभिमत प्रमाणलक्षणकी या प्रमेयतत्वकी जब समालोचना करता है तब मानों उस खण्डनीय तत्वको, अर्जुनकी तरह, सैकड़ों[1] ही विकल्प बाणोंसे, व्याप्त कर देता है। जयराशिके उठाए हुए प्रत्येक विकल्पका मूल किसी न किसी दार्शनिक परम्परामें अवश्य देखा जाता है। उससे उसके दार्शनिक विषयोंके तलस्पर्शी अभ्यासके बारेमें तो कोई सन्देह ही नहीं रहता। जयराशिको अपना तो कोई पक्ष स्थापित करना है ही नहीं; उसको तो जो कुछ करना है वह दूसरोंके माने हुए सिद्धान्तोंका खण्डन मात्र। अतएव वह जब तक, अपने समय पर्यन्तमें मौजूद और प्रसिद्ध सभी दर्शनोंके मन्तव्योंका थोड़ा-बहुत खण्डन न करे तब तक, वह अपने ग्रन्थके उद्देश्यको, अर्थात् समग्र तत्वोंके खण्डनको, सिद्ध ही नहीं कर सकता। उसने अपना यह उद्देश्य तत्वोपप्लव ग्रन्थके द्वारा सिद्ध किया है, और इससे सूचित होता है कि वह समग्र भारतीय दर्शन परम्पराओंका तलस्पर्शी अभ्यासी था। वह एक-एक करके सब दर्शनोंका खण्डन करनेके बाद अन्तमें वैयाकरण दर्शनकी[2] भी पूरी खबर लेता है। जयराशिने वैदिक, जैन और बौद्ध—इन तीनों संप्रदायोंका खण्डन किया है। और फिर वैदिक परम्परा अन्तर्गत न्याय, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त और व्याकरण दर्शनका भी खण्डन किया है। जैन संप्रदायको उसने दिगम्बर शब्दसे[3] उल्लिखित किया है।

---

१. 'केयं कल्पना ? किं गुणचलनजात्यादिविशेषणोत्पादितं विज्ञानं कल्पना, आहो स्मृत्युत्पादकं विज्ञानं कल्पना, स्मृतिरूपं वा, स्मृत्युत्पाद्यं वा, अभिलापसंसर्गनिर्भासो वा, अभिलापवती प्रतीतिर्वा कल्पना, अस्पष्टाकारा वा, अतात्त्विकार्थग्रहीतिरूपा वा, स्वयं वाऽतात्त्विकी, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृग्वा, अतीतानागतार्थनिर्भासा वा ?'—एक कल्पनाके विषयमें ही इतने विकल्प करके और फिर प्रत्येक विकल्पको लेकर भी उत्तरोत्तर अनेक विकल्प करके जयराशि उनका खण्डन करता है।—तत्वो० पृ० ३२।

२. तत्वोपप्लव, पृ० १२०।

३. ,, पृ० ७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध मतकी विज्ञानवादी शाखाका, खास कर धर्मकीर्ति और उसके शिष्योंके मन्तव्योंका निरसन किया है।[1] उसका खण्डित वैयाकरण दर्शन महाभाष्यानुगामी[2] भर्तृहरिका दर्शन जान पड़ता है। इस तरह जयराशिकी प्रधान योग्यता दार्शनिक विषयकी है और वह समग्र दर्शनोंसे संबन्ध रखती है।

ग्रन्थ परिचय

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थका पूरा नाम है **तत्त्वोपप्लवसिंह** जो उसके प्रारंभिक पद्यमें स्पष्ट रूपसे दिया हुआ है[3]। यद्यपि यह प्रारम्भिक पद्य बहुत कुछ

---

१. प्रमाणसामान्यका लक्षण, जिसका कि खण्डन जयराशिने किया है, धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिकमेंसे लिया गया है (–तत्त्वो० पृ० २८)। प्रत्यक्षका लक्षण भी खण्डन करनेके लिए धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुमेंसे ही लिया गया है (–पृ० ३२)। इसी प्रसंगमें धर्मकीर्ति और उनके शिष्योंने जो सामान्यका खण्डन और सन्तानका समर्थन किया है—उसका खण्डन भी जयराशिने किया है। आगे चलकर जयराशिने (पृ० ८३ से) धर्मकीर्ति सम्मत तीनों अनुमानका खण्डन किया है और उसी प्रसंगमें धर्मकीर्ति और उनके शिष्यों द्वारा किया गया अवयवीनिराकरण, बाह्यार्थविलोप, क्षणिकत्वस्थापन—इत्यादि विषयोंका विस्तारसे खण्डन किया है।

२. अपशब्दके भाषणसे मनुष्य म्लेच्छ हो जाता है अतः साधुशब्दके प्रयोगज्ञानके लिए व्याकरण पढना आवश्यक है, ऐसा महाभाष्यकारका मत है–'म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्' (–पात० महाभाष्य पृ० २२;पं० गुरुप्रसादसंपादित), तथा "एवमिहापि समानायां अर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते। 'शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देन' इति एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति"—(पृ० ५८) ऐसा कह करके महाभाष्यकारने साधुशब्दके प्रयोगको ही अभ्युदयकर बताया है। महाभाष्यकारके इसी मतको लक्ष्यमें रखकर भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें साधुशब्दोंके प्रयोगका समर्थन किया है और असाधुशब्दोंके प्रयोगका निषेध किया है—

"शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः॥"

इत्यादि—वाक्यपदीय, १. २७; १. १४१, तथा १४६ से। जयराशिने इस मतका खण्डन किया है—पृ० १२० से।

३. देखो प० ८० का टिप्पण २।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्डित हो गया है, तथापि दैवयोगसे इस शार्दूलविक्रीडित पद्यका एक पाद बच गया है जो शायद उस पद्यका अंतिम अर्थात् चौथा ही पाद है; और जिसमें ग्रन्थकारने ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए इसका नाम भी सूचित कर दिया है। ग्रंथकारने जो **तत्त्वोपप्लवसिंह** ऐसा नाम रखा है और इस नामके साथ जो **'विषमः'** तथा **'मया सृज्यते'** ऐसे पद मिल रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि इस पद्यके अनुपलब्ध तीन पादोंमें ऐसा कोई रूपकका वर्णन होगा जिसके साथ 'सिंह' शब्दका मेल बैठ सके। हम दूसरे अनेक ग्रंथोंके प्रारम्भमें ऐसे रूपक पाते हैं जिनमें ग्रन्थकारोंने अपने दर्शनको 'केसरी सिंह' या 'अग्नि'[१] कहा है और प्रतिवादी या प्रतिपक्षभूत दर्शनोंको 'हरिण' या 'इंधन' कहा है। प्रस्तुत ग्रंथकारका अभिप्रेत रूपक भी ऐसा ही कुछ होना चाहिए, जिसमें कहा गया होगा कि सभी आस्तिक दर्शन या प्रमाणप्रमेयवादी दर्शन मृगप्राय हैं और प्रस्तुत तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ उनके लिए एक विषम—भयानक सिंह है। अपने विरोधीके ऊपर या शिकारके ऊपर आक्रमण करनेकी सिंहकी निर्दयता सुविदित है। इसी तरह प्रस्तुत ग्रन्थ भी सभी स्थापित संप्रदायोंकी मान्यताओंका निर्दयतापूर्वक निर्मूलन करनेवाला है। तत्त्वोपप्लवसिंह नाम रखने तथा रूपक करनेमें ग्रन्थकारका यही भाव जान पड़ता है। तत्त्वोपप्लवसिंह यह पूरा नाम ई० १३-१४ वीं शताब्दीके जैनाचार्य मल्लिषेणकी कृति स्याद्वादमञ्जरी (पृ० ११८)में भी देखा जाता है। अन्य ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं प्रस्तुत ग्रन्थका नाम आया है वहाँ प्रायः तत्त्वोपप्लव[२] इतना ही संक्षिप्त नाम मिलता है। जान पड़ता है पिछले ग्रन्थकारोंने संक्षेपमें तत्त्वोपप्लव नामका ही प्रयोग करनेमें सुभीता देखा हो।

उद्देश्य—प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना करनेमें ग्रन्थकारके मुख्यतया दो उद्देश्य जान पड़ते हैं जो अंतिम भागसे स्पष्ट होते हैं। इनमेंसे, एक तो यह, कि अपने सामने मौजूद ऐसी दार्शनिक स्थिर मान्यताओंका समूलोच्छेद करके यह बतलाना, कि शास्त्रोंमें जो कुछ कहा गया है और उनके द्वारा जो कुछ स्थापन किया जाता है, वह सब परीक्षा करनेपर निराधार सिद्ध होता है। अतएव शास्त्रजीवी सभी व्यवहार, जो सुन्दर व आकर्षक मालूम होते हैं, अविचारके

---

१. "श्रीवीरः स जिनः श्रिये भवतु यत् स्याद्वाददावानले,
भस्मीभूतकुतर्ककाष्ठनिकरे तृण्यन्तिसर्वेऽप्यहो।"
—षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्नटीका, पृ०. १

२. सिद्धिविनिश्चय, पृ० २८८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही परिणाम हैं[१]। इस प्रकार समग्र तत्त्वोंका खण्डन करके चार्वाक मान्यताका पुनरुज्जीवन करना यह पहला उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य, ग्रन्थकारका यह जान पड़ता है, कि प्रस्तुत ग्रन्थके द्वारा अध्येताओंको ऐसी शिक्षा देना, जिससे वे प्रतिवादियोंका मुँह बड़ी सरलतासे बन्द कर सकें। यद्यपि पहले उद्देश्यकी पूर्ण सफलता विवादास्पद है, पर दूसरे उद्देश्यकी सफलता असंदिग्ध है। ग्रन्थ इस ढंगसे और इतने जटिल विकल्पोंके जालसे बनाया गया है कि एक बार जिसने इसका अच्छी तरह अध्ययन कर लिया हो, और फिर वह जो प्रतिवादियोंके साथ विवाद करना चाहता हो, तो इस ग्रन्थमें प्रदर्शित शैलीके आधार पर सचमुच प्रतिवादीको क्षणभरमें चुप कर सकता है। इस दूसरे उद्देश्यकी सफलताके प्रमाण हमें इतिहासमें भी देखनेको मिलते हैं। ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध जैनाचार्य शांतिसूरि—जो वादिवेतालके विरुदसे सुप्रसिद्ध हैं—के साथ तत्त्वोपप्लवकी मददसे अर्थात् तत्त्वोपप्लव जैसे विकल्पजालकी मददसे चर्चा करनेवाले एक धर्म नामक विद्वानका सूचन, प्रभाचन्द्रसूरिने अपने 'प्रभावक चरित्र'में किया[२] है। बौद्ध और वैदिक सांप्रदायिक विद्वानोंने वाद-विवादमें या शास्त्ररचनामें, प्रस्तुत तत्त्वोपप्लवका उपयोग किया है या नहीं और किया है तो कितना—इसके जाननेका अभी हमारे पास कोई साधन नहीं है; परन्तु जहाँ तक जैन संप्रदायका संबंध है, हमें कहना पड़ता है, कि क्या दिगम्बर-क्या श्वेताम्बर सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध जैन विद्वानोंने अपनी ग्रन्थरचनामें और संगत हुआ तो शास्त्रार्थोंमें भी, तत्त्वोपप्लवका थोड़ा बहुत उपयोग अवश्य किया है[३]। और यही खास कारण है कि यह ग्रन्थ अन्यत्र कहीं प्राप्त न होकर जैन ग्रन्थभंडारमें ही उपलब्ध हुआ है।

संदर्भ—प्रस्तुत ग्रन्थका संदर्भ गद्यमय संस्कृतमें है। यद्यपि इसमें अन्य ग्रन्थोंके अनेक पद्यबन्ध अवतरण आते हैं, पर ग्रन्थकारकी कृतिरूपसे तो आदि

---

१. 'तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्त एव।'
तथा—'पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्द्धिताः।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः॥' तत्त्वो० पृ० १२५.

२. सिंघी जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित, प्रभावकचरित, पृ० २२१–२२२। प्रो० रसिकलाल परिख संपादित, काव्यानुशासनकी अँगरेजी प्रस्तावना, पृ० CXLVI; तथा तत्त्वोपप्लवकी प्रस्तावना पृ० ५।

३. अष्टसहस्री, सिद्धिविनिश्चय, न्यायमुकुदचन्द्र, सन्मतिटीका, स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादमञ्जरी आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अन्तके मिलाकर कुल तीन ही पद्य इसमें मिलते हैं। बाकी सारा ग्रन्थ सरल गद्यमें है। भाषा प्रसन्न और वाक्य छोटे-छोटे हैं। फिर भी इसमें जो कुछ दुरूहता या जटिलता प्राप्त होती है, वह विचारकी अति सूक्ष्मता और एकके बाद दूसरी ऐसी विकल्पोंकी झड़ीके कारण है।

शैली—प्रस्तुत ग्रन्थकी शैली वैतण्डिक है। वैतण्डिक शैली वह है जिसमें **वितण्डा कथा**का आश्रय लेकर चर्चा की गई हो। **वितण्डा** यह **कथा**के[1] तीन प्रकारोंमेंका एक प्रकार है। दार्शनिक साहित्यमें **वितण्डा कथा**का क्या स्थान है, और वैतण्डिक शैलीके साहित्यमें प्रस्तुत ग्रन्थका क्या स्थान है, इसे समझनेके लिए नीचे लिखी बातोंपर थोड़ा-सा ऐतिहासिक विचार करना आवश्यक है।

(अ) कथाके प्रकार एवं उनका पारस्परिक अन्तर।

(ब) दार्शनिक साहित्यमें **वितण्डा कथा**का प्रवेश और विकास।

(स) वैतण्डिक शैलीके ग्रन्थोंमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान।

(**अ**) दो व्यक्तियों या दो समूहोंके द्वारा की जानेवाली चर्चा, जिसमें दोनों अपने-अपने पक्षका स्थापन और विरोधी परपक्षका निरसन, युक्तिसे करते हों, **कथा** कहलाती है। इसके **वाद, जल्प** और **वितण्डा** ऐसे तीन प्रकार हैं, जो उपलब्ध संस्कृत साहित्यमें सबसे प्राचीन **अक्षपाद**के सूत्रोंमें लक्षण-पूर्वक निर्दिष्ट हैं। **वादकथा**[2] वह है जो केवल सत्य जानने और जतलानेके अभिप्रायसे की जाती है। इस कथाका आन्तरिक प्रेरक तत्त्व केवल सत्यजिज्ञासा है। **जल्पकथा** वह है जो विजयकी इच्छासे या किसी लाभ एवं ख्यातिकी

---

१. कथासे संबंध रखनेवाली अनेक ज्ञातव्य बातोंका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए गुजरातीमें लिखा हुआ हमारा 'कथापद्धतिनुं स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' नामक सुविस्तृत लेख (पुरातत्त्व, पुस्तक २, पृ० १६५) उपयोगी है। इसी तरह उनके वास्ते हिन्दीमें स्वतंत्रभावसे लिखे हुए हमारे वे विस्तृत टिप्पण भी उपयोगी हैं जो 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला'में प्रकाशित 'प्रमाणमीमांसा'के भाषाटिप्पणोंमें, पृ० १०८ से पृ० १२३ तक अंकित हैं।

२. 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः। स्वप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।'—न्यायसूत्र १. २. १—३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छासेकी जाती है। इसका प्रेरक आन्तरिक तत्त्व केवल विजयेच्छा है। **वितण्डा कथा** भी विजयेच्छासे ही की जाती है। इस तरह **जल्प** और **वितण्डा** दो तो विजयेच्छाजनित हैं और **वाद** तत्त्वबोधेच्छाजनित। विजयेच्छाजनित होने पर भी जल्प और वितण्डामें एक अन्तर है, और वह यह कि जल्पकथामें वादी-प्रतिवादी दोनों अपना-अपना पक्ष रखकर, अपने-अपने पक्षका स्थापन करते हुए, विरोधी पक्षका खण्डन करते हैं। जब कि वितण्डा कथामें यह बात नहीं होती। उसमें अपने पक्षका स्थापन किये बिना ही प्रतिपक्षका खण्डन करनेकी एकमात्र दृष्टि रहती है।

यहाँ पर ऐतिहासिक तथा विकास क्रमकी दृष्टिसे यह कहना उचित होगा कि ऊपर जो कथाके तीन प्रकारोंका तथा उनके पारस्परिक अन्तरका शास्त्रीय सूचन किया है, वह विविध विषयके विद्वानोंमें अनेक सदियोंसे चली आती हुई चर्चाका तर्कशुद्ध परिणाम मात्र है। बहुत पुराने समयकी चर्चाओंमें अनेक जुदी-जुदी पद्धतियोंका बीज निहित है। वार्तालापकी पद्धति, जिसे संवादपद्धति भी कहते हैं, प्रश्नोत्तरपद्धति और कथापद्धति—ये सभी प्राचीन कालकी चर्चाओंमें कभी शुद्ध रूपसे तो कभी मिश्रित रूपसे चलती थीं। कथापद्धतिवाली चर्चामें भी **वाद, जल्प** आदि कथाओंका मिश्रण हो जाता था। जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता गया और एक पद्धतिमें दूसरी पद्धतिके मिश्रणसे, और खासकर एक कथामें दूसरी कथाके मिश्रणसे, कथाकालमें तथा उसके परिणाममें नानाविध असामञ्जस्यका अनुभव होता गया, वैसे-वैसे कुशल विद्वानोंने कथाके भेदोंका स्पष्ट विभाजन करना भी शुरू कर दिया; और इसके साथ ही साथ उन्होंने हरएक कथाके लिए, अधिकारी, प्रयोजन, नियम-उपनियम आदिकी मर्यादा भी बाँधनी शुरू की। इसका स्पष्ट निर्देश हम सबसे पहले अक्षपादके सूत्रोंमें देखते हैं। कथाका यह शास्त्रीय-निरूपण इसके बादके समग्र वाङ्मयमें आजतक सुस्थिर है। यद्यपि बीच-बीचमें बौद्ध और जैन तार्किकोंने, अक्षपादकी बतलाई हुई कथासंबन्धी मर्यादाका विरोध और परिहास करके, अपनी-अपनी कुछ भिन्न प्रणाली भी स्थापित की है; फिर भी सामान्य रूपसे देखा जाए तो सभी दार्शनिक परम्पराओंमें अक्षपादकी बतलाई हुई कथापद्धतिकी मर्यादाका ही प्रभुत्व बना हुआ है।

(इ) व्याकरण, अलंकार, ज्योतिष, वैद्यक, छन्द और संगीत आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिनपर चर्चात्मक संस्कृत साहित्य काफी तादादमें बना है; फिर भी हम देखते हैं कि **वितण्डा कथा**के प्रवेश और विकासका केन्द्र तो केवल दार्शनिक साहित्य ही रहा है। इस अन्तरका कारण, विषयका स्वाभा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विक स्वरूपभेद ही है। दर्शनोंसे संबन्ध रखनेवाले सभी विषय प्रायः ऐसे ही हैं जिनमें कल्पनाओंके साम्राज्यका यथेष्ट अवकाश है, और जिनकी चर्चामें कुछ भी स्थापन न करना और केवल खण्डन ही खण्डन करना यह भी आकर्षक बन जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि दार्शनिक क्षेत्रके सिवाय अन्य किसी विषयमें वितण्डा कथाके विकास एवं प्रयोगकी कोई गुंजाइश नहीं है।

चर्चा करनेवाले विद्वानोंकी दृष्टिमें भी अनेक कारणोंसे परिवर्तन होता रहता है। जब विद्वानोंकी दृष्टिमें सांप्रदायिक भाव और पक्षाभिनिवेश मुख्यतया काम करते हैं तब उनके द्वारा **वाद कथा**का सम्भव कम हो जाता है। तिस पर भी, जब उनकी दृष्टि आभिमानिक अहंवृत्तिसे और शुष्क वाग्विलासकी कुतूहल वृत्तिसे आवृत हो जाती है, तब तो उनमें **जल्प कथा**का भी सम्भव विरल हो जाता है। मध्य युग और अर्वाचीन युगके अनेक ग्रन्थोंमें **वितण्डा कथा**का आश्रय लिए जानेका एक कारण उपर्युक्त दृष्टिभेद भी है।

ब्राह्मण और उपनिषद् कालमें तथा बुद्ध और महावीरके समयमें चर्चाओंकी भरमार कम न थी, पर उस समयके भारतवर्षीय वातावरणमें धार्मिकता, आध्यात्मिकता और चित्तशुद्धिका ऐसा और इतना प्रभाव अवश्य था कि जिससे उन चर्चाओंमें विजयेच्छाकी अपेक्षा सत्यज्ञानकी इच्छा ही विशेषरूपसे काम करती थी। यही सबब है कि हम उस युगके साहित्यमें अधिकतर **वाद कथा**का ही स्वरूप पाते हैं। इसके साथ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि उस युगके मनुष्य भी अन्तमें मनुष्य ही थे। अतएव उनमें भी विजयेच्छा, सांप्रदायिकता और अहंताका तत्त्व, अनिवार्य रूपसे थोड़ा बहुत काम करता ही था। जिससे कभी-कभी **वाद कथा**में भी **जल्प** और **वितण्डा**का तथा **जल्प कथा**में वितण्डाका जानते-अनजानते प्रवेश हो ही जाता था। इतना होते हुए भी, इस बातमें कोई संदेह नहीं, कि अंतिम रूपमें उस समय प्रतिष्ठा सत्यज्ञानेच्छाकी और वादकथाकी ही थी। जल्प और वितण्डा कथा करनेवालोंकी तथा किसी भी तरहसे उसका आश्रय लेनेवालोंकी, उतनी प्रतिष्ठा नहीं थी जितनी शुद्ध **वाद कथा** करनेवालोंकी थी।

परंतु, अनेक ऐतिहासिक कारणोंसे, उपर्युक्त स्थितिमें बड़े जोरोंसे अंतर पड़ने लगा। बुद्ध और महावीरके बाद, भारतमें एक तरफसे **शस्त्रविजय**की वृत्ति प्रबल होने लगी; और दूसरी तरफसे उसके साथ-ही-साथ **शास्त्रविजय**की वृत्ति भी उत्तरोत्तर प्रबल होती चली। सांप्रदायिक संघर्ष, जो पहले विद्यास्थान, धर्मस्थान और मठोंहीकी वस्तु थी, वह अब राज-सभा तक जा पहुँचा। इस सबबसे दार्शनिक विद्याओंके क्षेत्रमें जल्प और वितण्डाका प्रवेश अधिकाधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने लगा और उसकी कुछ प्रतिष्ठा भी अधिक बढ़ने लगी। खुल्लमखुल्ला उन लोगोंकी पूजा और प्रतिष्ठा होने लगी जो 'येन केन प्रकारेण' प्रतिवादीको हरा सकते थे एवं हराते थे। अब सभी संप्रदायवादियोंको फिक्र होने लगी, कि किसी भी तरहसे अपने-अपने सम्प्रदायके मंतव्योंकी विरोधी सांप्रदायिकोंसे रक्षा करनी चाहिए। सामान्य मनुष्यमें विजयकी तथा लाभख्यातिकी इच्छा साहजिक ही होती है। फिर उसको बढ़ते हुए संकुचित सांप्रदायिक भावका सहारा मिल जाए, तो फिर कहना ही क्या? जहाँ देखो वहाँ विद्या पढ़ने-पढ़ानेका, तत्त्व-चर्चा करनेका प्रतिष्ठित लक्ष्य यह समझा जाने लगा, कि **जल्प कथा**से नहीं तो अन्तमें **वितण्डा कथा**से ही सही, पर प्रतिवादीका मुख बंद किया जाए और अपने सांप्रदायिक निश्चयोंकी रक्षा की जाय।

चन्द्रगुप्त और **अशोक**के समयसे लेकर आगेके साहित्यमें हम जल्प और वितण्डाके तत्त्व पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट पाते हैं। ईसाकी दूसरी तीसर शताब्दीके माने जानेवाले **नागार्जुन** और **अक्षपाद**की कृतियाँ हमारे इस कथनकी साक्षी हैं।

नागार्जुनकी कृति **विग्रहव्यावर्तिनी** को लीजिए या **माध्यमिककारिका**को लीजिए और ध्यानसे उनका अवलोकन कीजिए, तो पता चल जाएगा कि दार्शनिक चिन्तनमें वादकी आड़में, या वादका दामन पकड़कर उसके पीछे-पीछे, जल्प और वितण्डाका प्रवेश किस कदर होने लग गया था। हम यह तो निर्णयपूर्वक कभी कह नहीं सकते कि नागार्जुन सत्य-जिज्ञासासे प्रेरित था ही नहीं, और उसकी कथा सर्वथा वादकोटिसे बाह्य है; पर इतना तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नागार्जुनकी समग्र शैली, जल्प और वितण्डा कथाके इतनी नजदीक है कि उसकी शैलीका साधारण अभ्यासी, बड़ी सरलतासे, जल्प और वितण्डा कथाकी ओर लुढ़क सकता है।

अक्षपादने अपने अतिमहत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक संग्रह ग्रथमें **वाद, जल्प** और **वितण्डा**का, केवल अलग-अलग लक्षण ही नहीं बतलाया है बल्कि उन कथाओं के अधिकारी, प्रयोजन आदिकी पूरी मर्यादा भी सूचित की है। निःसंदेह अक्षपादने अपने सूत्रोंमें जो कुछ कहा है और जो कुछ स्पष्टीकरण किया है, वह केवल उनकी कल्पना या केवल अपने समयकी स्थितिका चित्रण मात्र ही नहीं है, बल्कि उनका यह निरूपण, अतिपूर्वकालसे चली आती हुई दार्शनिक विद्वानोंकी मान्यताओंका तथा विद्याके क्षेत्रमें विचरनेवालोंकी मनोदशाका जीवित प्रतिबिम्ब है। निःसंदेह अक्षपादकी दृष्टिमें वास्तविक महत्व तो 'वादकथा'का ही है, फिर भी वह स्पष्टता तथा बलपूर्वक, यह भी मान्यता प्रकट करता है कि केवल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जल्प' ही नहीं बल्कि 'वितण्डा' तकका भी आश्रय लेकर अपने तत्त्वज्ञानकी तथा अपने सम्प्रदायके मंतव्योंकी रक्षा करनी चाहिए। कांटे भले ही फेंक देने योग्य हों, फिर भी पौधोंकी रक्षाके वास्ते वे कभी-कभी बहुत उपादेय भी हैं। अक्षपादने इस दृष्टान्तके द्वारा 'जल्प' और 'वितण्डाकथा'का पूर्व समयसे माना जानेवाला मात्र औचित्य ही प्रकट नहीं किया है, बल्कि उसने खुद भी अपने सूत्रोंमें, कभी-कभी पूर्वपक्षीको निरस्त करनेके लिए, स्पष्ट या अस्पष्ट रूपसे, 'जल्प'का और कभी 'वितण्डा' तकका आश्रय लिया जान पड़ता है।[1]

मनुष्यकी सहजिक विजयवृत्ति और उसके साथ मिली हुई सांप्रदायिक मोहवृत्ति—ये दो कारण तो दार्शनिक क्षेत्रमें थे ही, फिर उन्हें ऋषिकल्प विद्वानोंके द्वारा किये गए 'जल्प' और 'वितण्डा कथा'के प्रयोगके समर्थनका सहारा मिला, तथा कुछ असाधारण विद्वानोंके द्वारा उक्त कथाकी शैलीमें लिखे गए ग्रन्थोंका भी समर्थन मिला। ऐसी स्थितिमें फिर तो कहना ही क्या था? आगमें घृताहुतिकी नौबत आ गई। जहाँ देखो वहाँ अकसर दार्शनिक क्षेत्रमें 'जल्प' और 'वितण्डा' का ही बोलबाला शुरू हुआ। यहाँतक कि एक बार ही नहीं बल्कि अनेक बार 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाके प्रयोगका निषेध करनेवाले तथा उसका अनौचित्य बतलानेवाले बुद्धि एवं चरित्र प्रगल्भ ऐसे खुद बौद्ध तथा जैन तत्त्वसंस्थापक विद्वान् तथा उनके उत्तराधिकारी भी 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाकी शैलीसे या उसके प्रयोगसे बिलकुल अछूते रह न सके। कभी-कभी तो उन्होंने यह भी कह दिया कि यद्यपि 'जल्प' और 'वितण्डा' सर्वथा वर्ज्य है तथापि परिस्थिति विशेषमें उसका भी उपयोग है।[2]

इस तरह कथाओंके विधि-निषेधकी दृष्टिसे, या कथाओंका आश्रय लेकर की जानेवाली ग्रन्थकारकी शैलीकी दृष्टिसे, हम देखें, तो हमें स्पष्टतया मालूम पड़ता है कि **वात्स्यायन, उद्द्योतकर, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, कुमारिल, शंकराचार्य** आदिकी कृतियाँ 'शुद्ध वादकथा' के नमूने नहीं हैं। जहाँतक अपने-अपने संप्रदायका तथा उसकी अवांतर शाखाओंका संबंध है वहाँतक तो, उनकी कृतियोंमें 'वादकथा'का तत्त्व सुरक्षित है, पर जब विरोधी संप्रदायके साथ चर्चाका मौका आता है तब ऐसे

---

१. देखो न्यायसूत्र, ४. २. ४७।

२. देखो, उ० यशोविजयजीकृत वादद्वात्रिंशिका, श्लो०, ६—

अयमेव विधेयस्तत् तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्षायाऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम्॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट विद्वान् भी, थोड़े बहुत प्रमाणमें, विशुद्ध 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाकी ओर नहीं तो कमसे कम उन कथाओंकी शैलीकी ओर तो, अवश्य ही झुक जाते हैं। दार्शनिक विद्वानोंकी यह मनोवृत्ति नवीं सदीके बादके साहित्यमें तो और भी तीव्रतर होती जाती है। यही सबब है कि हम आगेके तीनों मतोंके साहित्यमें विरोधी संप्रदायके विद्वानों तथा उनके स्थापकोंके प्रति अत्यंत कड़आपनका तथा तिरस्कारका[1] भाव पाते हैं।

मध्य युगके तथा अर्वाचीन युगके बने हुए दार्शनिक साहित्यमें ऐसा भाग बहुत बड़ा है जिसमें 'वाद'की अपेक्षा 'जल्पकथा'का ही प्राधान्य है। नागार्जुनने जिस 'विकल्पजाल'की प्रतिष्ठा की थी और बादके बौद्ध, वैदिक तथा जैन तार्किकोंने जिसका पोषण एवं विस्तार किया था, उसका विकसित तथा विशेष दुरूह स्वरूप हम **श्रीहर्षके खण्डनखण्डखाद्य एवं चित्सुखाचार्य**की **चित्सुखी** आदिमें पाते हैं।[2] बेशक ये सभी ग्रन्थ 'जल्प कथा'की ही प्रधानतावाले हैं, क्योंकि इनमें लेखकका उद्देश्य स्वपक्षस्थापन ही है, फिर भी इन ग्रन्थोंकी शैलीमें 'वितण्डा'की छाया अति स्पष्ट है। यों तो 'जल्प' और 'वितण्डा' कथाके बीचका अन्तर इतना कम है कि अगर ग्रन्थकारके मनोभाव और उद्देश्यकी तरफ हमारा ध्यान न जाए, तो अनेक बार हम यह निर्णय ही नहीं कर सकते कि यह ग्रन्थ 'जल्प शैली'का है, या वितण्डा शैलीका। जो कुछ हो, पर उपर्युक्त चर्चासे हमारा अभिप्राय इतना ही मात्र है कि मध्य युग तथा अर्वाचीन युगके सारे साहित्यमें शुद्ध वितण्डाशैलीके ग्रन्थ नाममात्रके हैं।

(उ) हम दार्शनिक साहित्यकी शैलीको संक्षेपमें पाँच विभागोंमें बाँट सकते हैं—

(१) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी शैली मात्र प्रतिपादनात्मक है, जैसे—

---

१. इस विषयमें गुजरातीमें लिखी हुई 'साम्प्रदायिकता अने तेना पुरावाओनुं दिग्दर्शन' नामक हमारी लेखमाला, जो पुरातत्त्व, पुस्तक ४, पृ० १६६ से शुरू होती है, देखें।

२. हेतुविडम्बनोपाय अभी छपा नहीं है। इसके कर्ताका नाम ज्ञात नहीं हुआ। इसकी लिखित प्रति पाटणके किसी भाण्डारमें भी होनेका स्मरण है। इसकी एक प्रति पूनाके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूटमें है जिसके ऊपरसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारने एक नकल कर ली है। वही इस समय हमारे सम्मुख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माण्डुक्यकारिका, सांख्यकारिका, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, अभिधर्मकोष, प्रशस्तपादभाष्य, न्यायप्रवेश, न्यायबिन्दु आदि ।

(२) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें स्वसंप्रदायके प्रतिपादनका भाग अधिक और अन्य संप्रदायके खण्डनका भाग कम है—जैसे **शाबरभाष्य** ।

(३) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें परमतोंका खण्डन विस्तारसे है और स्वमतका स्थापन थोड़ेमें हैं, जैसे—**माध्यमिक कारिका, खण्डनखण्डखाद्य** आदि ।

(४) कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें खण्डन और मण्डन समप्रमाण है या साथ-ही-साथ चलता है, जैसे—**वात्स्यायन भाष्य, मीमांसा श्लोकवार्तिक, शांकरभाष्य, प्रमाणवार्तिक** आदि ।

(५) बहुत थोड़े पर ऐसे ग्रंथ भी मिलते हैं जिनमें स्वपक्षके प्रतिपादनका नामोनिशान तक नहीं है और दूसरेके मन्तव्योंका खण्डन-ही-खण्डन मात्र है । ऐसे शुद्ध वैतण्डिक शैलीके ग्रन्थ इस समय हमारे सामने दो हैं—एक प्रस्तुत **तत्त्वोपप्लवसिंह** और दूसरा **हेतुविडम्बनोपाय** ।

इस विवेचनासे प्रस्तुत तत्त्वोपप्लव ग्रन्थकी शैलीका दार्शनिक शैलियोंमें क्या स्थान है यह हमें स्पष्ट मालूम पड़ जाता है ।

यद्यपि 'तत्त्वोपप्लवसिंह और 'हेतुविडम्बनोपाय' इन दोनोंकी शैली शुद्ध खण्डनात्मक ही है, फिर भी इन दोनोंकी शैलीमें थोड़ासा अन्तर भी है जो मध्ययुगीन और अर्वाचीनकालीन शैलीके भेदका स्पष्ट द्योतक है ।

दसवीं शताब्दीके पहलेके दार्शनिक साहित्यमें व्याकरण और अलंकारके पाण्डित्यको पेट भरकर व्यक्त करनेकी कृत्रिम कोशिश नहीं होती थी । इसी तरह उस युगके व्याकरण तथा अलंकार विषयक साहित्यमें, न्याय एवं दार्शनिक तत्त्वोंको लबालब भर देनेकी भी अनावश्यक कोशिश नहीं होती थी । जब कि दसवीं सदीके बादके साहित्यमें हम उक्त दोनों कोशिशें उत्तरोत्तर अधिक परिमाणमें पाते हैं । दसवीं सदीके बादका दार्शनिक, अपने ग्रन्थकी रचनामें तथा प्रत्यक्ष चर्चा करनेमें, यह ध्यान अधिकसे अधिक रखता है, कि उसके ग्रन्थमें और संभाषणमें, व्याकरणके नव-नव और जटिल प्रयोगोंको तथा आलंकारिक तत्त्वोंकी वह अधिकसे अधिक मात्रा किस तरह दिखा सके । वादी **देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर, श्रीहर्षका खण्डनखण्डखाद्य, रत्नमण्डनकी कल्पकल्पलता** आदि दार्शनिक ग्रन्थ उक्त वृत्तिके नमूने हैं । दूसरी तरफसे वैयाकरणों और आलंकारिकोंमें भी एक ऐसी वृत्तिका उदय हुआ, जिससे प्रेरित होकर वे न्यायशास्त्रके नवीन तत्त्वोंको एवं जटिल परिभाषाओंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने विषयके सूक्ष्म चिंतनमें ही नहीं पर प्रतिवादीको चुप करनेके लिए भी काममें लाने लगे। बारहवीं सदीके **गंगेश**ने 'अवच्छेदकता', 'प्रकारता', 'प्रतियोगिता' आदि नवीन परिभाषाके द्वारा न्यायशास्त्रके बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूपमें युगान्तर उपस्थित किया और उसके उत्तराधिकारी मैथिल एवं बंगाली तार्किकोंने उस दिशामें आश्चर्यजनक प्रगति की। न्यायशास्त्रकी इस सूक्ष्म पर जटिल परिभाषाको तथा विचारसरणीको वैयाकरणों और आलंकारिकों तकने अपनाया। वे न्यायकी इस नवीन परिभाषाके द्वारा प्रतिवादियोंको परास्त करनेकी भी वैसी ही कोशिश करने लगे, जैसी कुछ दार्शनिक विद्वान् व्याकरण और अलंकारकी चमत्कृतिके द्वारा करने लगे थे। **नागोजी भट्ट**के **शब्देन्दु-शेखर** आदि ग्रन्थ तथा **जगन्नाथ** कविराजके **रसगंगाधर** आदि ग्रन्थ नवीन न्यायशैलीके जीवंत नमूने हैं।

यद्यपि 'हेतुविडम्बनोपाय'की शैली 'तत्त्वोपप्लवसिंह'की शैली जैसी शुद्ध वैतण्डिक ही है, फिर भी दोनोंमें युगभेदका अन्तर स्पष्ट है। तत्त्वोपप्लवसिंहमें दार्शनिक विचारोंकी सूक्ष्मता और जटिलता ही मुख्य है, भाषा और अलंकारकी छटा उसमें वैसी नहीं है। जब कि हेतुविडम्बनोपायमें वैयाकरणोंके तथा आलंकारिकोंके भाषा-चमत्कारकी आकर्षक छटा है। इसके सिवाय इन दोनों ग्रन्थोंमें एक अन्तर और भी है जो प्रतिपाद्य विषयसे संबंध रखता है। तत्त्वोपप्लवसिंहका खण्डनमार्ग समग्र तत्त्वोंको लक्ष्यमें रखकर चला है, अतएव उसमें दार्शनिक परंपराओंमें माने जानेवाले समस्त प्रमाणोंका एक-एक करके खण्डन किया गया है; जब कि हेतुविडम्बनोपायका खण्डनमार्ग केवल अनुमानके हेतुको लक्ष्यमें रख कर शुरू हुआ है, इसलिए उसमें उतने खण्डनीय प्रमाणोंका विचार नहीं है जितनोंका तत्त्वोपप्लवमें है।

इसके सिवाय एक बड़े महत्त्वकी ऐतिहासिक वस्तुका भी निर्देश करना यहाँ जरूरी है। तत्त्वोपप्लवसिंहका कर्ता **जयराशि** तत्त्वमात्रका वैतण्डिक शैलीसे खण्डन करता है और अपनेको **बृहस्पति**की परम्पराका बतलाता है। जब कि हेतुविडम्बनोपायका कर्ता जो कोई जैन है—जैसा कि उसके प्रारम्भिक भागसे[1] स्पष्ट है—आस्तिक रूपसे अपने इष्ट देवको नमस्कार भी करता है और केवल खण्डनचातुरीको दिखानेके वास्ते ही हेतुविडम्बनोपायकी रचना

---

१. 'प्रणम्य श्रीमदर्हन्तं परमात्मानमव्ययम्।
हेतोर्विडम्बनोपायो निरपायः प्रतायते॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना बतलाता है[1]। जयराशिका उद्देश्य केवल खण्डनचातुरी बतलानेका या उसे दूसरोंको सिखानेका ही नहीं है बल्कि अपनी चार्वाक मान्यताका एक नया रूप प्रदर्शित करनेका भी है। इसके विपरीत हेतुविडम्बनोपायके रचयिताका उद्देश्य अपनी किसी परम्पराके स्वरूपका बतलाना नहीं है। उसका उद्देश्य सिर्फ यही बतलानेका है कि विवाद करते समय अगर प्रतिवादीको चुप करना हो तो उसके स्थापित पक्षमेंसे एक साध्य या हेतुवाक्यकी परीक्षा करके या उसका समूल खण्डन करके किस तरह उसे चुप किया जा सकता है।

चार्वाक दर्शनमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान

प्रस्तुत ग्रन्थ चार्वाक संप्रदायका होनेसे इस जगह इस संप्रदायके संबन्धमें नीचे लिखी बातें ज्ञातव्य हैं।

(अ) चार्वाक संप्रदायका इतिहास

(इ) भारतीय दर्शनोंमें उसका स्थान

(उ) चार्वाक दर्शनका साहित्य

(अ) पुराने उपनिषदोंमें[2] तथा **सूत्रकृताङ्ग**[3] जैसे प्राचीन माने जानेवाले जैन आगममें भूतवादी या भूतचैतन्यवादी रूपसे चार्वाक मतका निर्देश है। **पाणिनि**के सूत्रमें आनेवाला नास्तिक शब्द भी अनात्मवादी चार्वाक मतका ही सूचक है। बौद्ध **दीघनिकाय**में भी भूतवादी और अक्रियवादी रूपसे दो

---

१. ग्रन्थकार शुरूमें ही कहता है कि—"इह हि यः कश्चिद्विपश्चित् प्रचण्डप्रामाणिकप्रकाण्डश्रेणीशिरोमणीयमानः सर्वाङ्गीणानणीयः प्रमाणधोरणीप्रगुणीभवदखण्डपाण्डित्योद्दाम्भरतां स्वात्मनि मन्यमानः स्वान्यानन्यतमसौजन्यधन्यत्रिभुवनमान्यवदान्यगणावगणनानुगुणानणुतत्तद्भणितिरणरणकरंरणन्निस्समानाभिमानः अप्रतिहतप्रसरप्रवरनिरवद्यसद्यस्कानुमानपरम्परापराबोभवितनिस्तुषमनीषाविशेषोन्मिषन्मनीषिपरिषज्जाग्रत्प्रत्यग्रोदग्रमहीयोमहीयसन्मानः शतमखगुरुमुखादुद्गविमुखताकारिहारिसर्वतोमुखशेमुषीमुखरासंख्यसंख्यावद्विख्याते पर्षदिदितसमग्रतर्ककर्कशवितर्कणप्रवणः प्रामाणिकग्रामणीः प्रमाणयति तस्याशयस्याहङ्कारप्राग्भारतिरस्काराय चारुविचारचातुरीगरीयश्चतुरनरचेतश्चमत्काराय च किञ्चिदुच्यते।"

२. "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञा अस्तीति"—बृहदारण्यकोपनिषद्. ४, १२.

३. सूत्रकृताङ्ग, पृ० १४, २८१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थिकोंका सूचन है[1]। चाणक्यके अर्थशास्त्रमें लोकायतिक मतका निर्देश उसी भूतवादी दर्शनका बोधक है। इस तरह 'नास्तिक' 'भूतवादी' 'लोकायतिक' 'अक्रियवादी' आदि जैसे शब्द इस संप्रदायके अर्थमें मिलते हैं। पर उस प्राचीन कालके साहित्यमें 'चार्वाक' शब्दका पता नहीं चलता। चार्वाक मतका पुरस्कर्ता कौन था इसका भी पता उस युगके साहित्यमें नहीं मिलता। उसके पुरस्कर्ता रूपसे **बृहस्पति, देवगुरु** आदिका जो मन्तव्य प्रचलित है वह संभवतः पौराणिकोंकी कल्पनाका ही फल है। पुराणोंमें[2] चार्वाक मतके प्रवर्तकका जो वर्णन है वह कितना साधार है यह कहना कठिन है। फिर भी पुराणोंका वह वर्णन, अपनी मनोरञ्जकता तथा पुराणोंकी लोकप्रियताके कारण, जनसाधारणमें और विद्वानोंमें भी रूढ हो गया है; और सब कोई निर्विवाद रूपसे यही कहते और मानते आए हैं कि बृहस्पति ही चार्वाक मतका पुरस्कर्ता है। जहाँ कहीं चार्वाक मतके निदर्शक वाक्य या सूत्र मिलते हैं वहाँ वे[3] बृहस्पति, सुरगुरु[4] आदि नामके साथ ही उद्धृत किये हुए पाए जाते हैं।

(६) भारतीय दर्शनोंको हम संक्षेपमें चार विभागोंमें बाँट सकते हैं।

१. इन्द्रियाधिपत्य पक्ष
२. अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष
३. उभयाधिपत्य पक्ष
४. आगमाधिपत्य पक्ष

१. जिस पक्षका मन्तव्य यह है कि प्रमाणकी सारी शक्ति इन्द्रियोंके ऊपर ही अवलम्बित है। मन खुद इन्द्रियोंका अनुगमन कर सकता है पर वह इन्द्रियोंकी मददके सिवाय कहीं भी अर्थात् जहाँ इन्द्रियोंकी पहुँच न हो वहाँ—प्रवृत्त होकर सच्चा ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता, सच्चे ज्ञानका अगर सम्भव है तो वह इन्द्रियोंके द्वारा ही—यह है इन्द्रियाधिपत्य पक्ष। इस पक्षमें चार्वाक दर्शन ही समाविष्ट है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि चार्वाक अनुमान या

---

१. देखो, दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त, पृ० १२; तथा सामञ्ञफलसुत्त पृ० २०—२१।

२. विष्णुपुराण, तृतीयअंश, अध्याय—१७। कथाके लिए देखो सर्व दर्शनसंग्रहका पं० अम्बिकादत्तशास्त्री लिखित उपोद्घात, पृ० १३२।

३. तत्त्वोपप्लव, पृ० ४५।

४. तत्त्वोपप्लवमें बृहस्पतिको सुरगुरु भी कहा है—पृ० १२५। खण्डनखण्डखाद्यमें भगवान् सुरगुरुको लोकायतिक सूत्रका कर्ता कहा गया है—पृ० ७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दव्यवहार रूप आगम आदि प्रमाणोंको, जो प्रतिदिन सर्वसिद्ध व्यवहारकी वस्तु है, न मानता हो; फिर भी चार्वाक अपनेको जो प्रत्यक्षमात्रवादी—इन्द्रिय प्रत्यक्षमात्रवादी कहता है, इसका अर्थ इतना ही है कि अनुमान, शब्द आदि कोई भी लौकिक प्रमाण क्यों न हो, पर उसका प्रामाण्य इन्द्रिय प्रत्यक्षके संवादके सिवाय कभी सम्भव नहीं। अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्षसे बाधित नहीं ऐसा कोई भी ज्ञानव्यापार यदि प्रमाण कहा जाए तो इसमें चार्वाकको आपत्ति नहीं।

२. अनिन्द्रियके अन्तःकरण—मन, चित्त और आत्मा ऐसे तीन अर्थ फलित होते हैं, जिनमेंसे चित्तरूप अनिन्द्रियका आधिपत्य माननेवाला अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष है। इस पक्षमें **विज्ञानवाद, शून्यवाद** और **शाङ्कर-वेदान्त**का समावेश होता है। इस पक्षके अनुसार यथार्थज्ञानका सम्भव विशुद्ध चित्तके द्वारा ही माना जाता है। यह पक्ष इन्द्रियोंकी सत्यज्ञानजननशक्तिका सर्वथा इन्कार करता है और कहता है कि इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान करानेमें पंगु ही नहीं बल्कि धोखेबाज भी अवश्य हैं। इनके मन्तव्यका निष्कर्ष इतना ही है कि चित्त—खासकर ध्यानशुद्ध सात्त्विक चित्तसे बाधित या उसका संवाद प्राप्त न कर सकनेवाला कोई ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता, चाहे वह फिर भले ही लोकव्यवहारमें प्रमाण रूपसे माना जाता हो।

३. उभयाधिपत्य पक्ष वह है जो चार्वाककी तरह इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर इन्द्रिय निरपेक्ष मनका असामर्थ्य स्वीकार नहीं करता; और न इन्द्रियोंको ही पंगु या धोखेबाज मानकर केवल अनिन्द्रिय या चित्तका ही सामर्थ्य स्वीकार करता है। यह पक्ष मानता है कि चाहे मनकी मददसे ही सही, पर इन्द्रियाँ गुणसम्पन्न हो सकती हैं और वास्तविक ज्ञान पैदा कर सकती हैं। इसी तरह यह पक्ष यह भी मानता है कि इन्द्रियोंकी मदद जहाँ नहीं है वहाँ भी अनिन्द्रिय यथार्थ ज्ञान करा सकता है। इसीसे इसे उभयाधिपत्य पक्ष कहा है। इसमें **सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक** और **मीमांसक** आदि दर्शनोंका समावेश है। सांख्य-योग इन्द्रियोंका सद्गुण्य मान कर भी अन्तःकरणकी स्वतंत्र यथार्थशक्ति मानता है। न्याय-वैशेषिक आदि भी मनकी वैसी ही शक्ति मानते हैं; पर फर्क यह है कि सांख्य-योग आत्माका स्वतंत्र प्रमाणसामर्थ्य नहीं मानते। क्योंकि वे प्रमाणसामर्थ्य बुद्धिमें ही मान कर पुरुष या चेतनको निरतिशय मानते हैं; जब कि न्याय-वैशेषिक आदि, चाहे ईश्वरकी आत्माका ही सही, पर आत्माका स्वतन्त्र प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वे शरीर-मनका अभाव होनेपर भी ईश्वरमें ज्ञानशक्ति मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रान्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी इसी पक्षके अन्तर्गत हैं, क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मन दोनोंका प्रमाण-सामर्थ्य मानते हैं।

४. आगमाधिपत्य पक्ष वह है जो किसी-न-किसी विषयमें आगमके सिवाय किसी इन्द्रिय या अनिन्द्रियका प्रमाणसामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। यह पक्ष केवल **पूर्वमीमांसा**का ही है। यद्यपि वह अन्य विषयोंमें सांख्ययोगादिकी तरह उभयाधिपत्य पक्षका ही अनुगामी है, फिर भी धर्म और अधर्म इन दो विषयोंमें वह आगम मात्रका ही सामर्थ्य मानता है। यों तो **वेदान्त**के अनुसार ब्रह्मके विषयमें भी आगमका ही प्राधान्य है; फिर भी वह आगमाधिपत्य पक्षमें इसलिए नहीं आ सकता कि ब्रह्म विषयमें ध्यानशुद्ध अन्तःकरणका भी सामर्थ्य उसे मान्य है।

इस तरह, चार्वाक मान्यता इन्द्रियाधिपत्य पक्षकी अनुवर्तिनी ही सर्वत्र मानी जाती है। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ उस मान्यताके विषयमें एक नया प्रस्थान उपस्थित करता है। क्योंकि इसमें इन्द्रियोंकी यथार्थज्ञान उत्पन्न करनेकी शक्तिका भी खण्डन किया गया है और लौकिक प्रत्यक्ष तकको भी प्रमाण माननेसे इन्कार कर दिया है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थके अभिप्रायसे चार्वाक मान्यता दो विभागोंमें बँट जाती है। पूर्वकालीन मान्यता इन्द्रियाधिपत्य पक्षमें जाती है, और **जयराशि**की नई मान्यता प्रमाणोपप्लव पक्षमें आती है।

(उ) चार्वाक मान्यता का कोई पूर्ववर्ती ग्रन्थ अखण्ड रूपसे उपलब्ध नहीं है। अन्य दर्शन ग्रन्थोंमें पूर्वपक्ष रूपसे चार्वाक मतके मन्तव्यके साथ कहीं-कहीं जो कुछ वाक्य या सूत्र उद्धृत किये हुए मिलते हैं, यही उसका एक मात्र साहित्य है। यह भी जान पड़ता है कि चार्वाक मान्यताको व्यवस्थित रूपसे लिखनेवाले विद्वान् शायद हुए ही नहीं। जो कुछ बृहस्पतिने कहा उसीका छिन्नभिन्न अंश उस परम्पराका एक मात्र प्राचीन साहित्य कहा जा सकता है। उसी साहित्यके आधार पर पुराणोंमें भी चार्वाक मतको पल्लवित किया गया है। आठवीं सदीके जैनाचार्य **हरिभद्र**के **षड्दर्शनसमुच्चय**में और तेरहवीं-चौदहवीं सदीके **माधवाचार्य** कृत **सर्वदर्शनसंग्रह**में चार्वाक मतके वर्णनके साथ कुछ पद्य उद्धृत मिलते हैं। पर जान पड़ता है, कि ये सब पद्य, किसी चार्वाकाचार्यकी कृति न होकर, और और विद्वानोंके द्वारा चार्वाक-मत-वर्णन रूपसे वे समय-समय पर बने हुए हैं।

इस तरह चार्वाक दर्शनके साहित्यमें प्रस्तुत ग्रन्थका स्थान बड़े महत्त्वका है। क्योंकि यह एक ही ग्रन्थ हमें ऐसा उपलब्ध है जो चार्वाक मान्यताका अखण्ड ग्रन्थ कहा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थमें किस-किस विषयकी चर्चा है और वह किस प्रकार की गई है इसका संक्षिप्त परिचय प्राप्त करनेके लिए नीचे लिखी बातों पर थोड़ासा प्रकाश डालना जरूरी है।

(१) ग्रन्थकारका उद्देश्य और उसकी सिद्धिके वास्ते उसके द्वारा अवलंबित मार्ग।

(२) किन-किन दर्शनोंके और किन-किन आचार्योंके सम्मत प्रमाणलक्षणोंका खण्डनीय रूपसे निर्देश है।

(३) किन-किन दर्शनोंके कौन-कौनसे प्रमेयोंका प्रासंगिक खण्डनके वास्ते निर्देश है।

(४) पूर्वकालीन और समकालीन किन-किन विद्वानोंकी कृतियोंसे खण्डन-सामग्री ली हुई जान पड़ती है।

(५) उस खण्डन-सामग्रीका अपने अभिप्रेतकी सिद्धिमें ग्रन्थकारने किस तरह उपयोग किया है।

(१) हम पहले ही कह चुके हैं कि ग्रन्थकारका उद्देश्य, समग्र दर्शनोंकी छोटी-बड़ी सभी मान्यताओंका एकमात्र खण्डन करना है। ग्रन्थकारने यह सोचकर कि सब दर्शनोंके अभिमत समग्र तत्वोंका एक-एक करके खण्डन करना संभव नहीं; तब यह विचार किया होगा कि ऐसा कौन मार्ग है जिसका सरलतासे अवलम्बन हो सके और जिसके अवलम्बनसे समग्र तत्त्वोंका खण्डन आप-ही-आप सिद्ध हो जाए। इस विचारमेंसे ग्रन्थकारको अपने उद्देश्यकी सिद्धिका एक अमोघ मार्ग सूझ पड़ा, और वह यह कि अन्य सब बातोंके खण्डनकी ओर मुख्य लक्ष्य न देकर केवल प्रमाणखण्डन ही किया जाए, जिससे प्रमाणके आधारसे सिद्ध किये जानेवाले अन्य सब तत्त्व या प्रमेय अपने आप ही खण्डित हो सकें। जान पड़ता है ग्रन्थकारके मनमें जब यह निर्णय स्थिर बन गया तब फिर उसने सब दर्शनोंके अभिमत प्रमाणलक्षणोंके खण्डनकी तैयारी की। ग्रन्थके प्रारम्भमें ही वह अपने इस भावको स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करता है। वह सभी प्रमाण प्रमेयवादी दार्शनिकोंको ललकार कर कहता है[1] कि—**'आप लोग जो प्रमाण और प्रमेयकी व्यवस्था मानते हैं उसका**

---

१. 'अथ कथं तानि न सन्ति ? तदुच्यते—सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानम्, माननिबन्धना च मेयस्थितिः, तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथम् ?.....इत्यादि। तत्त्वोपप्लव, पृ० १.।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधार है प्रमाणका यथार्थ लक्षण। परन्तु विचार करने पर जब कोई प्रमाणका लक्षण ही निर्दोष सिद्ध नहीं होता तब उसके आधार पर बतलाई जानेवाली प्रमाण प्रमेयकी व्यवस्था कैसे मानी जा सकती है? ऐसा कहकर, वह फिर एक-एक करके प्रमाणलक्षणका क्रमशः खण्डन करना आरंभ करता है। इसी तरह ग्रन्थके अन्तमें भी उसने अपने इस निर्णीत मार्गको दोहराया है और उसकी सफलता भी सूचित की है। उसने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि—**'जब कोई प्रमाणलक्षण ही ठीक नहीं बनता तब सब तत्त्व आप ही आप बाधित या असिद्ध हो जाते हैं। ऐसी दशामें बाधित तत्त्वोंके आधारपर चलाये जानेवाले सब व्यवहार वस्तुतः अविचाररमणीय ही हैं।'** अर्थात् शास्त्रीय और लौकिक अथवा इहलौकिक और पारलौकिक—सब प्रवृत्तियोंकी सुन्दरता सिर्फ अविचारहेतुक ही है। विचार करनेपर वे सब व्यवहार निराधार सिद्ध होनेके कारण निर्जीव जैसे शोभाहीन हैं। ग्रन्थकारने अपने निर्णयके अनुसार यद्यपि दार्शनिकोंके अभिमत प्रमाणलक्षणोंकी ही खण्डनीय रूपसे मीमांसा शुरू की है और उसीपर उसका जोर है; फिर भी वह बीच-बीचमें प्रमाणलक्षणोंके अलावा कुछ अन्य प्रमेयोंका भी खण्डन करता है। इस तरह प्रमाणलक्षणोंके खण्डनका ध्येय रखनेवाले इस ग्रन्थमें थोड़ेसे अन्य प्रमेयोंका भी खण्डन मिलता है।

(२) **न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध, वैयाकरण** और **पौराणिक** इन छह दर्शनोंके अभिमत लक्षणोंको, ग्रन्थकारने खण्डनीय रूपसे लिया है। इनमेंसे कुछ लक्षण ऐसे हैं जो प्रमाणसामान्यके हैं और कुछ ऐसे हैं जो विशेष विशेष प्रमाणके हैं। प्रमाणसामान्यके लक्षण सिर्फ **मीमांसा** और **बौद्ध**—इन दो दर्शनोंके लिये गये हैं[1]। मीमांसासम्मत प्रमाणसामान्यलक्षण जो ग्रन्थकारने लिया है वह **कुमारिल**का माना जाता है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि वह लक्षण पूर्ववर्ती अन्य मीमांसकोंको भी मान्य रहा होगा। ग्रन्थकारने बौद्ध दर्शनके प्रमाणसामान्य संबंधी दो लक्षण चर्चाके लिये हैं[2] जो प्रगट रूपसे **धर्मकीर्ति**के माने जाते हैं, पर जिनका मूल **दिङ्नाग**के विचारमें भी अवश्य है।

विशेष प्रमाणोंके लक्षण जो ग्रन्थमें आए हैं वे **न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध, पौराणिक** और **वैयाकरणों**के हैं।

---

१ देखो पृ० २२ और २७।
२ देखो, पृ० २७ और २८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्याय दर्शनके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चारों प्रमाणोंके विशेष लक्षण ग्रन्थमें आए हैं[1] और वे **अक्षपाद**के **न्यायसूत्र**के हैं।

सांख्य दर्शनके विशेष प्रमाणोंमेंसे केवल प्रत्यक्षका ही लक्षण लिया गया है,[2] जो **ईश्वरकृष्ण**का न होकर **वार्षगण्य**का है।

बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंको ही मानता है।[3] ग्रन्थकारने उसके दोनों प्रमाणोंके लक्षण चर्चाके वास्ते लिए हैं[4] जो—जैसा कि हमने ऊपर कहा है—धर्मकीर्तिके हैं, पर जिनका मूल दिङ्नागके ग्रन्थोंमें भी मिलता है।

मीमांसा दर्शनके प्रसिद्ध आचार्य दो हैं—**कुमारिल** और **प्रभाकर**। प्रभाकरको पाँच प्रमाण इष्ट हैं, पर कुमारिलको छह। प्रस्तुत ग्रन्थमें कुमारिलके छहों प्रमाणोंकी मीमांसाकी गई है, और इसमें प्रभाकर सम्मत पाँच प्रमाणोंकी मीमांसा भी समा जाती है।

पौराणिक विद्वान मीमांसा सम्मत छह प्रमाणोंके अलावा ऐतिह्य और सम्भव नामक दो[5] और प्रमाण मानते हैं—जिनका निर्देश **अक्षपाद**के सूत्रों तकमें[6] भी है—वे भी प्रस्तुत ग्रन्थमें लिये गए हैं।[7]

वैयाकरणोंके अभिमत 'वाचकपद'के लक्षण और 'साधुपद'की उनकी व्याख्याका भी इस ग्रन्थमें खण्डनीय रूपसे निर्देश मिलता है। यह सम्भवतः **भर्तृहरि**के **वाक्यपदीय**से लिया गया है।[8]

(३) यों तो ग्रन्थमें प्रसंगवश अनेक विचारोंकी चर्चा की गई है, जिनका यहाँपर सविस्तर वर्णन करना शक्य नहीं है, फिर भी उनमेंसे कुछ विचारों—वस्तुओंका निर्देश करना आवश्यक है, जिससे यह जानना सरल हो जाएगा, कि कौन-कौनसी वस्तुएँ, अमुक दर्शनको मान्य और अन्य दर्शनोंको अमान्य होनेके कारण, दार्शनिक-क्षेत्रमें खण्डन-मण्डनकी विषय बनी हुई हैं, और

---

१. देखो, पृ० २७,५४,११२,११५।
२. पृ० ६१।
३. पृ० ३२, ८३।
४. ५८, ८२ १०६, ११२, ११६।
५. पृ० ११३।
६. न्यायसूत्र—२. २. १.
७. पृ० १११।
८. पृ० १२०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकारने दार्शनिकोंके उस पारस्परिक खण्डन-मण्डनकी चर्चासे किस तरह फायदा उठाया है। वे वस्तुएँ ये हैं—

जाति, समवाय, आलम्बन, अतथ्यता, तथ्यता, स्मृतिप्रमोष, सन्निकर्ष, विषयद्वैविध्य, कल्पना, अस्पष्टता, स्पष्टता, सन्तान, हेतु-फलभाव, आत्मा, कैवल्य, अनेकान्त, अवयवी, बाह्यार्थविलोप, क्षणभङ्ग, निर्हेतुकविनाश, वर्ण, पद, स्फोट और **अपौरुषेयत्व**।

इनमेंसे 'जाति', 'समवाय', 'सन्निकर्ष', 'अवयवी', आत्माके साथ सुख-दुःखादिका संबन्ध, शब्दका अनित्यत्व, कार्यकारणभाव—आदि ऐसे पदार्थ हैं जिनको **नैयायिक** और **वैशेषिक** मानते हैं, और जिनका समर्थन उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें बहुत बल तथा विस्तारपूर्वक करके विरोधी मतोंके मन्तव्यका खण्डन भी किया है। परन्तु वे ही पदार्थ **सांख्य, बौद्ध, जैन** आदि दर्शनोंको उस रूपमें बिलकुल मान्य नहीं। अतः उन-उन दर्शनोंमें इन पदार्थोंका, अति विस्तारके साथ खण्डन किया गया है।

'स्मृतिप्रमोष' मीमांसक **प्रभाकर**की अपनी निजकी मान्यता है, जिसका खण्डन नैयायिक, बौद्ध और जैन विद्वानोंके अतिरिक्त स्वयं महामीमांसक **कुमारिल**के अनुगामियों तकने, खूब विस्तारके साथ किया है।

'अपौरुषेयत्व' यह **मीमांसक** मान्यताकी स्वीय वस्तु होनेसे उस दर्शनमें इसका अति विस्तृत समर्थन किया गया है; पर नैयायिक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनोंमें इसका उतने ही विस्तारसे खण्डन पाया जाता है।

'अनेकान्त' **जैन** दर्शनका मुख्य मन्तव्य है जिसका समर्थन सभी जैन तार्किकोंने बड़े उत्साहसे किया है; परंतु बौद्ध, नैयायिक, वेदान्त आदि दर्शनोंमें उसका वैसा ही प्रबल खण्डन किया गया है।

'आत्मकैवल्य' जिसका समर्थन **सांख्य** और **वेदान्त** दोनों अपने ढंगसे करते हैं; लेकिन बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य सभी दार्शनिक उसका खण्डन करते हैं।

'वर्ण', 'पद' 'स्फोट' आदि शब्दशास्त्र विषयक वस्तुओंका समर्थन जिस ढंगसे वैयाकरणोंने किया है उस ढंगका, तथा कभी-कभी उन वस्तुओंका ही, बौद्ध, नैयायिक आदि अन्य तार्किकोंने बलपूर्वक खण्डन किया है।

'क्षणिकत्व', 'संतान', 'विषयद्वित्व', 'स्पष्टता—अस्पष्टता', 'निर्हेतुकविनाश', 'बाह्यार्थविलोप', 'आलम्बन', 'हेतुफलसंबंध', 'कल्पना', 'तथ्यता—अतथ्यता' आदि पदार्थ ऐसे हैं जिनमेंसे कुछ तो सभी बौद्ध परंपराओंमें, और कुछ किसी-किसी परम्परामें, मान्य होकर जिनका समर्थन बौद्ध विद्वानोंने बड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयाससे किया है; पर नैयायिक, मीमांसक, जैन आदि अन्य दार्शनिकोंने उन्हींका खण्डन करनेमें अपना बड़ा बौद्धिक पराक्रम दिखलाया है।

(४) यह खण्डन सामग्री, निम्नलिखित दार्शनिक साहित्य परसे ली गई जान पड़ती है—

न्याय-वैशेषिक दर्शनके साहित्यमेंसे अक्षपादका न्यायसूत्र, वात्स्यायन भाष्य, न्यायवर्तिक, व्योमवती और न्यायमंजरी।

मीमांसक साहित्यके श्लोकवार्तिक और बृहती नामक ग्रंथोंका आश्रय लिया जान पड़ता है।

बौद्ध साहित्यमेंसे प्रमाणवार्तिक, संबंधपरीक्षा, सामान्यपरीक्षा आदि धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंका; तथा प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर आदि धर्मकीर्तिके शिष्योंकी की हुई उन ग्रन्थोंकी व्याख्याओंका आश्रय लिया जान पड़ता है।

व्याकरण शास्त्रीय साहित्यमेंसे वाक्यपदीयका उपयोग किया हुआ जान पड़ता है।

जैन साहित्यमेंसे पात्रस्वामि या अकलंककी कृतियोंका उपयोग किये जानेका संभव है।

(५) जयराशिने अपने अध्ययन और मननसे, भिन्न-भिन्न दार्शनिक-प्रमाणके स्वरूपके विषयमें तथा दूसरे पदार्थोंके विषयमें, क्या-क्या मतभेद रखते हैं और वे किन-किन मुद्दोंके ऊपर एक दूसरेका किस-किस तरह खण्डन करते हैं, यह सब जानकर, उसने उन विरोधी दार्शनिकोंके ग्रन्थोंमेंसे बहुत कुछ खण्डन सामग्री संग्रहीत की और फिर उसके आधारपर किसी एक दर्शनके मन्तव्यका खण्डन, दूसरे विरोधी दर्शनोंकी की हुई युक्तियोंके आधारपर किया; और उसी तरह, फिर अन्तमें दूसरे विरोधी दर्शनोंके मन्तव्योंका खण्डन, पहले विरोधी दर्शनकी दी हुई युक्तियोंसे किया। उदाहरणार्थ—जब नैयायिकोंका खण्डन करना हुआ, तब बहुत करके बौद्ध और मीमांसकके ग्रन्थोंका आश्रय लिया गया, और फिर बौद्ध, और मीमांसक आदिके सामने नैयायिक और जैन आदिको भिड़ा दिया गया। पुराणोंमें यदुवंशके नाशके बारेमें कथा है कि मद्यपानके नशेमें उन्मत्त होकर सभी यादव आपसमें एक दूसरेसे लड़े और मर मिटे। जयराशिने दार्शनिकोंके मन्तव्योंका यही हाल देखा। वे सभी मन्तव्य दूसरेको पराजित करने और अपनेको विजयी सिद्ध करनेके लिए जल्पकथाके अखाड़ेपर लड़नेको उतरे हुए थे। जयराशिने दार्शनिकोंके उस जल्पवादमेंसे अपने वितण्डावादका मार्ग बड़ी सरलतासे निकाल लिया और दार्शनिकोंकी खण्डनसामग्रीसे उन्हींके तत्वोंका उपप्लव सिद्धकर दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि जयराशिकी यह पद्धति कोई नई वस्तु नहीं है—अंशरूपमें तो वह सभी मध्यकालीन और अर्वाचीन दर्शन ग्रन्थोंमें विद्यमान है, पर इसमें विशेषत्व यह है कि भट्ट जयराशिकी खण्डनपद्धति सर्वतोमुखी और सर्वव्यापक होकर निरपेक्ष है।

उपसंहार

यद्यपि यह तत्त्वोपप्लव एक मात्र खण्डनप्रधान ग्रन्थ है, फिर भी इसका और तरहसे भी उपयोग आधुनिक विद्वानोंके लिए कर्तव्य है। उदाहरणार्थ—जो लोग दार्शनिक शब्दोंका कोश या संग्रह करना चाहें और ऐसे प्रत्येक शब्दके संभवित अनेकानेक अर्थ भी खोजना चाहें, उनके लिए यह ग्रन्थ एक बनी बनाई सामग्री है। क्योंकि जयराशिने अपने समय तकके दार्शनिक ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध ऐसे सभी पारिभाषिक दार्शनिक शब्दोंका विशिष्ट ढंगसे प्रयोग किया है और साथ ही साथ 'कल्पना','स्मृति' आदि जैसे प्रत्येक शब्दोंके सभी प्रचलित अर्थोंका निदर्शन भी किया है। अतएव यह तत्त्वोपप्लव ग्रन्थ आधुनिक विद्वानोंके वास्ते एक विशिष्ट अध्ययनकी वस्तु है। इस परसे दार्शनिक विचारोंकी तुलना करने तथा उनके ऐतिहासिक क्रमविकासको जाननेके लिए अनेक प्रकारकी बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है।

ई० १९४१] [भारतीय विद्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org